जमीनी स्तर से अवलोकन

एस. गिरिधर



अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के साथ अपने कार्य के दौरान मैंने तकरीबन हर उस ब्लॉक का दौरा किया जहाँ के सरकारी स्कूलों के साथ फाउण्डेशन कार्यरत था जैसे बनासकांठा, गुजरात में डीसा, उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड में मोरी या सिरोही, राजस्थान में पिण्डवाड़ा। तो जब लर्निंग कर्व की सम्पादिका ने सार्वजनिक शिक्षा के इस विशेष अंक के लिए एक लेख लिखने को कहा तो मैंने सोचा कि उनके आदेश का पालन करने का बेहतरीन तरीका यह होगा कि मैं उन सारी बातों को याद करके लिख डालूँ जो मैंने वहाँ जमीनी स्तर पर देखी थीं। लेकिन मैं यह भी स्वीकारता हूँ कि ये स्मृतियाँ आपको क्रमबद्ध विवरण के रूप में नहीं मिल पाएँगी, यह तो उन स्कूलों का दौरा करते समय हुए अनुभव की यादों में डुबकी लगाने जैसा है और मैं आशा करता हूँ कि ज्यों–ज्यों मैं एक घटना से दूसरी घटना की ओर जाऊँगा त्यों–त्यों यह विवरण एक सार्थक कथा का रूप लेता जाएगा।

उत्तर–पूर्व कर्नाटक के एक छोटे से गाँव हनकनहल्ली में शिक्षक होने का क्या मतलब है? हूविनहदगली (इसका मोहक अर्थ है 'नाव में ले जाए जा रहे फूल') तालुक में एक छोटे–से कस्बे से भी कई मील दूर इस गाँव के सरकारी स्कूल में 54 विद्यार्थी हैं। इनमें से अधिकतर पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी हैं और उनके माता–पिता आसपास के खेतों में दिहाड़ी मजदूर के रूप में काम करते हैं। स्कूल में दो शिक्षक, जिनमें से एक प्रधानाध्यापक की दोहरी भूमिका निभाता है। इस दूरस्थ बस्ती में ये दोनों अत्यन्त स्वायत्त शिक्षकों के समान हैं। यहाँ कभी–कभार एक बस गाँव के निकट से होकर गुजरती है। संकुल संसाधक तो इनके लिए आकस्मिक और दूर की बात है तथा खण्ड शिक्षा अधिकारी के लिए 3 साल में एक बार से ज्यादा इनके स्कूल का दौरा कर पाना असम्भव है। लेकिन ये दोनों शिक्षक रोजाना स्कूल आते हैं। बच्चे जल्दी ही स्कूल आ जाते हैं। स्कूल छोटा किन्तु साफ–सुथरा है। समय सारिणी वे खुद तय करते हैं। वैसे जिले ने उन्हें समय सारिणी दी है, कन्नड़ के लिए 40 मिनट फिर गणित के लिए 40 मिनट, फिर फलां–फलां विषय के लिए 40 मिनट आदि। लेकिन ये दोनों शिक्षक अपना कार्य जानते हैं और उसे वे नियमित रूप से करते जाते हैं। योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने के लिए पूरा दिन उनके पास होता है। इसलिए अगर किसी रोज कन्नड़ के लिए दो घण्टे का समय दिया जाए तो उसका कारण यह होता है कि वे राजा और उसके दरबार के बारे में एक नाटक कर रहे हैं। एक लड़की राजा की भूमिका निभा रही है। हर बच्चा स्कूल में हो, हर बच्चा सीखे – ऐसा कई बरसों से हो रहा है। शिक्षकगण सरल आत्माएँ हैं, वे इस बात से खुश हैं कि उनके विद्यार्थी नवोदय स्कूल की प्रवेश–परीक्षा में सफल हुए हैं।

दूर बहुत दूर, गुजरात के बनासकांठा में शिक्षकों के लिए कार्यशालाएँ आयोजित की गई हैं। इसमें उन्हें कुछ ऐसी अवधारणाओं से परिचित कराया जाएगा जिनकी सहायता से वे ऐसे रोचक प्रश्न पत्र बना सकें जो रटने की जाँच न करके अवधारणात्मक समझ का परीक्षण करें। लेकिन इस पूरे हफ्ते लगातार बारिश हो रही है। अधिकांश क्षेत्र जलमग्न है और जिस धर्मशाला में कार्यशाला का आयोजन किया गया है वहाँ कमर तक पानी भरा हुआ है। 'मास्टर ट्रेनर्स' कार्यशाला प्रारम्भ होने की पिछली रात को किसी तरह वहाँ आ पहुँचे हैं लेकिन उन्हें चिन्ता इस बात की है कि अगर इसी तरह बारिश होती रही और बाढ़ की सी स्थिति बनी रही तो क्या अगली सुबह शिक्षक आ पाएँगे? लेकिन अगले दिन नौ बजे बनासकांठा के 120 शिक्षकों का दल आ पहुँचा। पुरुष अपनी पैंट को घुटनों तक चढ़ाए हुए और महिलाएँ अपनी साड़ी को यथासम्भव ऊपर बाँधे हुए पानी तथा कीचड़ में से रास्ता बनाते हुए सही समय पर कार्यशाला में हाजिर हो गए। कार्यक्रम शुरू हो गया। अगर वे न भी आते तो क्या कोई उन्हें कुछ कहता? नहीं। लेकिन फिर भी वे आए। अगले तीन दिनों तक इन शिक्षकों ने कार्यशाला में सक्रिय रूप से भाग लिया। तर्क किया, एतराज जताया, विरोध किया और समझ गए कि यहाँ किस तरह के आकलन के बारे में चर्चा हो रही है। फिर वे कांकरेज और खेड़ब्रह्म के अपने–अपने स्कूलों

में वापस गए और जो कुछ सीखा था उसका उपयोग करने की कोशिश में लग गए – अपने स्कूल में, अपने बच्चों के साथ, अपने सीमित संसाधनों की सहायता से और जो कुछ सीखा था उसका प्रयोग करते हुए। ये शिक्षक आपकी और मेरी तरह साधारण लोग हैं लेकिन इन्होंने बहुत दिलेरी दिखलाई, अपार उत्साह दिखाया।

आइए, अब कर्नाटक के बेल्लारी जिले में चलें। 400 मीटर की दूरी पर स्थित दो स्कूल, दोनों जरा बड़े से गाँव के बच्चों की सेवा में लगे हुए (अब मुझसे यह मत पूछिएगा कि ये स्कूल इस तरह से क्यों बनाए गए)। एक स्कूल गन्दा और बेढंगा, जिसमें उदासीन–से एक प्रधानाध्यापक थे जिन्होंने अपने स्कूल परिसर की दीवार पर बने 10X6 के भित्ति चित्र को तक नहीं पढ़ा था जिसमें सार्वभौमिक शिक्षा के मन्त्र का उपदेश दिया गया था, हालाँकि वे हर सुबह उसी दीवार के पास अपनी मोटरसाइकिल खड़ी किया करते थे। दूसरा स्कूल, आकार में पहले स्कूल से आधे से भी छोटा, दो कमरे, सम्पन्न, जीवन्त, गतिविधियों से गुंजायमान; प्रधानाध्यापक और उनके सहयोगी शोर मचाते उत्सुक बच्चों के साथ व्यस्त। एक स्कूल को शैक्षिक वर्ष की शुरुआत में ही बच्चों की वर्दी और किताबें मिल गईं। दूसरे को इसके बारे में कुछ पता नहीं। वही गाँव, वही संकुल, वही खण्ड लेकिन 400 मीटर की दूरी पर दो अलग संसारों का कितना अकल्पित सा चित्र! लिंगप्पा और हनुमन्तप्पा के स्कूल के वे 50 बच्चे वाकई भाग्यशाली हैं पर दूसरे स्कूल के 120 बच्चों के दुर्भाग्य के बारे में क्या कहा जाए!

कुछ साल पहले एक और स्थान की यात्रा का अनुभव। यह वह कहानी है जो मैंने पहले भी सुनाई है लेकिन यहाँ उसे दोहराने में मुझे काफी खुशी हो रही है। सिरोही का दूरस्थ इलाका, जहाँ अभी भी एक सामन्ती प्रतिबन्धात्मक जीवन शैली का चलन है। ऐसे स्थान में हर महीने के एक रविवार को पारिवारिक विरोधों का सामना करके शिक्षिकाएँ स्वैच्छिक मंचों में भाग लेने के लिए आती हैं। अपनी मर्जी से, यात्रा के लिए अपने खुद के पैसे खर्च करके; अपने पेशेवर विकास और सीखने की प्रबल इच्छा लिए, रविवार की छुट्टी का त्याग करके – वह छुट्टी – महिलाओं के लिए जिसकी अनमोलता को कभी पूरी तरह से समझा नहीं जा सकता। ये आत्मप्रेरित, साहसी, जिज्ञासु, चेहरे पर ईमानदारी की चमक लिए, अज्ञात, गुमनाम पथ प्रदर्शक। ग्रामीण सरकारी स्कूल की इन महिला शिक्षिकाओं के साथ अपनी बातचीत के बारे में मुझे और क्या याद है? एक बात जो निश्चित तौर पर याद है वह है उनमें से एक शिक्षिका के ये मार्मिक शब्द :"मुझे पता है कि इन सब बातों की हमारी प्रणाली में कोई मान्यता नहीं है लेकिन अगर खण्ड कार्यालय से मुझे कोई शाबाशी देते हुए एक एस.एम.एस भी भेज दे कि 'वेल डन', तो मैं जीवन भर के लिए खुश हो जाऊँगी।''

क्या आपको याद है कि सरकारी स्कूल के शिक्षकों को हर माह 500 रुपए दिए जाते थे ताकि वे पाठ्यपुस्तकों को संवर्धित करने के लिए शिक्षण अधिगम सामग्री का निर्माण कर सकें? मुझे यह बात अच्छी तरह से याद है क्योंकि अपने शुरुआती दौरों के दौरान मैं बड़े अभावुक रूप से कहा करता था कि इन 500 रुपयों से स्थानीय बाजारों में थर्मोकोल की बिक्री बढ़ेगी। अधिकांश शिक्षक थर्मोकोल को विभिन्न आकारों में काटकर उनमें रंग भरकर कक्षा में उसका उपयोग यह सोचकर करेंगे कि इससे उन्हें कक्षा–शिक्षण में मदद मिलेगी। लेकिन इन्हीं जगहों में पिछले सालों में मुझे एक विनम्र व सुखद सच्चाई सीखने को मिली – शिक्षक वाकई सीखना चाहते हैं, वे अपने को सुधारना चाहते हैं। और इसीलिए जब गाँव के इन्हीं स्कूलों में कोई संसाधक इन्हें गणित या इतिहास पढ़ाने के लिए सहायक सामग्री बनाना सिखाता है तो वे श्रेष्ठता में खुद तक को मात दे देते हैं। कर्नाटक के यादगीर जिले के सूरपुर तालुक के वही शिक्षक जो थर्मोकोल काटकर मन्दिर और किले बनाया करते थे, वे अब बच्चों के साथ मिलकर ऐसे मनोरम वीडियो बनाने लगे हैं जो गाँव के इतिहास, किसी विशेष आकृति या आकार के महत्त्व, कब्रिस्तान के निर्माण या किसी स्थानीय सेनापति की सेना की किले पर चढ़ने की विशेष योग्यता के बारे में विवरण देते हैं। सहज और स्वाभाविक रूप से बच्चों के साथ उन्होंने यह शैक्षिक यात्रा इसलिए की ताकि स्थानीय लोगों से प्राप्त पीढ़ियों से चली आने वाली कथाओं को आदर देते हुए भी इतिहास में प्रमाणों की प्रमुखता को समझा जा सके।

सरकारी स्कूलों और ग्रामीण भारत के शिक्षकों के इन चित्रों को साथ में जोड़ने पर शायद सार्वजनिक शिक्षा सम्बन्धी चर्चा के सन्दर्भ में कुछ चीजों को देखा जा सकता है। पहली बात, अपने कार्य से प्रेम करने वाले परिश्रमी, प्रतिबद्ध और प्रेरित शिक्षक ही परिवर्तन लाते हैं। दूसरी बात, जो शिक्षक स्वायत्तता का प्रयोग करना चाहते हैं उनके लिए सार्वजनिक स्कूलों और पाठ्यचर्या में पर्याप्त स्थान और स्वायत्तता है। तीसरी बात, जो

शिक्षक अपने बच्चों की बेहतरी चाहते हैं वे संसाधनों और सामग्री का उपयोग कर सकते हैं। जब हम सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली जैसी विशाल प्रणाली की बात करते हैं तो वहाँ नीति का क्रियान्वयन, शैक्षिक और प्रशासनिक संस्थागत समर्थन जैसे प्रचलित शब्दों के साथ और कुछ अन्य बातें भी देखने में आती हैं जो इस प्रणाली को एक विशाल स्तम्भ के रूप में मानती हैं। हम मुद्दे या तथ्य से बिल्कुल चूक जाते हैं। जमीनी स्तर पर, सभी बाधाओं का दिलेरी के साथ सामना करने वाले बहादुर शिक्षक के लिए दो कक्षा कक्ष, बच्चे, अपने बच्चों की शिक्षा के लिए उन पर भरोसा करने वाला समुदाय और उनकी अपनी अन्तरात्मा ही उनका संसार है। ये बच्चे ज्यादातर पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी हैं, जिन्हें माता–पिता से बहुत कम या बिल्कुल भी सहायता नहीं मिलती और जिनके घरों में शायद ही कोई पठन सामग्री मिलती हो। इनमें से कई बच्चों के लिए तो स्कूल में दिया जाने वाला दोपहर का भोजन ही शायद पूरे दिन में मिलने वाला एकमात्र गर्म भोजन होता है। समय पर किताबें, वर्दी और अन्य सामग्री को पाने में प्रयासरत और बच्चों के साथ हर दिन कार्य करने वाले इन शिक्षकों के लिए उनके बच्चों के द्वारा की गई हर छोटी प्रगति किसी बड़ी जीत से कम नहीं। वे अपने स्वयं की दूरदराज दुनिया में बदलाव ला रहे हैं और वे न तो यह समझना चाहते हैं कि प्रणालीगत परिवर्तन से हमारा क्या आशय है और न ही वे उसका इन्तजार करते हैं।

एस. गिरिधर अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरु के रजिस्ट्रार और चीफ ऑपरेटिंग ऑफिसर हैं। उनसे giri@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल